जून १९८८ हिंदी पत्रिका में प्रकाशित

बुद्ध और धर्म

(३)

कोई व्यक्ति शुद्ध, बुद्ध जीवनमुक्त महापुरुष होगा तो हमें यही शिक्षा देगा कि हम शील-सदाचार का पालन करें। याने वाणी और शरीर से ऐसा कोई काम नहीं करें जिससे अन्य प्राणियों को पीड़ा पहुँचे, उनकी सुख-शांति भंग हो। हत्या, चोरी और व्यभिचार नहीं करें। झूठी, कड़वी, परनिंदा और चुगली की तथा निरर्थक बात नहीं बोलें। इन सबसे बचे रहने के लिए हम किसी मादक पदार्थ का सेवन नहीं करें।

किसी भी बुद्ध की यह शिक्षा सार्वजनीन धर्म का प्रथम चरण है। इसका किसी भी संप्रदाय से गठबंधन नहीं। बात सार्वजनीन है, सब के हित की है। इसे पालन करने के लिए किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होने की कतई आवश्यकता नहीं। किसी भी संप्रदाय अथवा जाति का व्यक्ति हो, वह स्वयं सोच कर देखेगा कि मुझे शरीर और वाणी के ऐसे दुष्कर्म क्यों नहीं करने चाहिए? सोचेगा तो यह बात खूब समझ में आयेगी। एक तो यह कि जब कोई अन्य व्यक्ति मेरे प्रति पीड़ाजनक व्यवहार करता है तो मुझे बहुत अप्रिय लगता है। ऐसे ही मेरे द्वारा किसी के प्रति किया गया पीड़ाजनक व्यवहार उस व्यक्ति को भी उतना ही अप्रिय लगता होगा। औरों के जो कर्म मुझे प्रिय नहीं लगते, वैसे ही कर्म मैं स्वयं औरों के प्रति क्यों करूं? दूसरे यह कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। उसे परिवार में, समाज में रहना है। कोई गृहत्यागी हो तो भी उसका समाज से संबंध नहीं टूटता। अतः मुझे जब समाज के अन्य लोगों के साथ रहना है तो अन्य लोगों की सुख-शांति की व्यवस्था भंग नहीं करनी चाहिए। ऐसा करूंगा तो चारों ओर अशांति और अव्यवस्था का ही वातावरण पैदा कर लूंगा। अपने चारों ओर आग लगा लूंगा। ऐसे परिवेश में रहते हुए मैं कैसे स्वयं शीतलता का अनुभव कर सकूंगा? कैसे स्वयं सुख-शांति का जीवन जी सकूंगा? सुख-शांति का जीवन तो सभी जीना चाहते हैं। अतः अपनी सुख-शांति के लिए ही मुझे औरों की सुख-शांति नहीं भंग करनी चाहिए। मुझे शील-सदाचार का जीवन जीना चाहिए।

अपना भला चाहनेवाला व्यक्ति यह भी बखूबी समझने लगता है कि शरीर और वाणी से दुष्कर्म करने के पहले उसे अपनी चित्तधारा में विकार जगाने पड़ते हैं। जैसे हत्या करने के पहले क्रोध, द्वेष, दुर्भावना आदि; चोरी करने के पहले लोभ; व्यभिचार करने के पहले वासना; झूठ, कटु वचन बोलने के पहले भय, अहंकार आदि विकार जगाने पड़ते हैं। मन में जब विकार जगाता हूं तब स्वयं व्याकुल हो जाता हूं। अतः समझने लगता है कि सदाचार का जीवन जीकर मैं औरों पर एहसान नहीं कर रहा, बल्कि अपने ही तात्कालिक लाभ के लिए ऐसा कर रहा हूं। मेरा सही स्वार्थ शील-सदाचार का जीवन जीने में ही है।

इतनी सी बात समझ में आ जाय तो कोई भी समझदार व्यक्ति शील-सदाचार का जीवन जीना चाहेगा ही। परन्तु जीए कैसे? इसमें अनेक कठिनाइयाँ आती हैं। समय समय पर अनेक विषम परिस्थितियाँ उसे कोई न कोई सा शील तोड़ने के लिए मजबूर कर देती हैं। न चाहते हुए भी वह परिस्थितियों वश हत्या भी करता है, चोरी भी, व्यभिचार भी, मादक पदार्थ का सेवन भी और अनुचित वाणी भी बोल देता है। ऐसा करके फिर पछताता है। परन्तु इस पछताने से कोई लाभ नहीं होता। परिस्थितियों के आधीन बार-बार ऐसे अकरणीय कर्म करता ही जाता है। इसका मुख्य कारण यह है कि वह अपने मन का मालिक नहीं है। उसका मन उसे जैसा नाच नचाए वैसा नाचता है।

यह मानसिक दुर्बलता किसी संप्रदाय विशेष या जातिविशेष के व्यक्ति की तो होती नहीं। यह कमजोरी तो सब की है। इसे सभी दूर करना चाहेंगें। इसीलिए कोई शुद्ध -बुद्ध मुक्त पुरुष शील-सदाचार का कोरा उपदेश देकर नहीं रह जाता। वह सार्वजनीन धर्म का अगला कदम सिखाता है। मन को कैसे समाधिस्थ करें। उसे कैसे अपने वश में करें। इसके लिए जितने उपाय सिखाता है वे सब के सब सार्वजनीन होते हैं। किसी संप्रदाय से जुड़े नहीं होते। इनमें से सबसे सरल और प्रभावशाली उपाय श्वास-निरीक्षण का है। साधक अपने स्वाभाविक श्वास के आवागमन को जानने का अभ्यास करना सीखता है। इसके साथ कोई शब्द अथवा काल्पनिक रूप या आकृति नहीं जोड़ता। श्वास पर नियंत्रण भी नहीं करता। महज कुदरतन श्वास की स्वाभाविक गतिविधि के प्रति सतत् सजग रहने का अभ्यास करता हुआ धीरे धीरे अपने मन को वश में करने लगता है। मन को वश में करने की यह विधि कोई भी अपना सकता है और इसके अभ्यास द्वारा उतना ही लाभान्वित हो सकता है। किसी जाति या संप्रदाय का व्यक्ति हो, कोई फर्क नहीं पड़ता। इस विधि को अपनाने के लिए भी किसी संप्रदाय-विशेष में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती। धर्म का यह दूसरा चरण भी उतना ही सार्वजनीन है जितना कि पहला।

मन को वश में कर लेना अच्छा है। इससे सारी इंद्रियों पर संवर-संयम करना आ जाता है। आँख, कान, नाक, जिह्वा और शरीर पर संवर-संयम करना आ जाता है। मन को वश में करना बहुत कल्याणकारी होता है। इससे आदमी शरीर और वाणी के दुष्कर्म करने से बचता है। परन्तु इससे मन की गहराइयों तक सफाई नहीं हो पाती। मन का संवर करने से मानसिक विकारों का दमन तो हो जाता है, पर शमन नहीं होता। उनका निर्मूलन नहीं होता। संवर-संयम और दमन द्वारा दबाए गए विकार मानस की तलस्पर्शी गहराइयों में सोए हुए चित्तधारा के साथ प्रवाहमान होते रहते हैं। इन अनुशय विकारों का निष्कासन किए बिना चित्त नितांत निर्मल नहीं हो सकता। चित्त नितांत निर्मल हुए बिना राग-द्वेष की प्रतिक्रिया करने का उसका स्वभाव नहीं छूटता।

अतः जो शुद्ध बुद्ध जीवनमुक्त महापुरुष होता है वह धर्म का यह तीसरा चरण भी सिखाता है। स्वयं अपने भीतर का होश जगाकर इन अनुशय-क्लेशों का, आस्रवों का उन्मूलन करना सिखाता है। इस काम के लिए भी जो विद्या सिखाता है वह सार्वजनीन होती है। किसी भी संप्रदाय या जाति का व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के इसका अभ्यास कर सकता है और एक जैसा लाभ हासिल कर सकता है। इस विद्या के अभ्यास के लिए भी उसे किसी संप्रदाय में दीक्षित होने की आवश्यकता नहीं होती।

इस विपश्यना विद्या का अभ्यास करता हुआ साधक अंतर्मुखी होकर क्षण-प्रतिक्षण अपने चित्त तथा उस पर जगाते हुए विकारों की रेल-पेल को देखता है और साथ साथ अपने शरीर तथा उस पर जागनेवाली विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं का निरीक्षण करता है। इन संवेदनाओं के प्रति भोक्ताभाव हटाता हुआ तटस्थ साक्षीभाव पुष्ट करता है। अपनी अनुभूतियों से देखता है कि शरीर और चित्त का प्रपंच किस प्रकार एक दूसरे से प्रभावित होता रहता है। देखता है प्रिय अनुभूति के प्रति राग और अप्रिय अनुभूति के प्रति द्वेष की प्रतिक्रिया करने का अन्तर्मन का स्वभाव कैसे अपने ही अंधेपन में पुष्ट हुए जा रहा है। देखता है शरीर और चित्त जो इतने परिवर्तनशील हैं, जो मैं नहीं, मेरे नहीं, फिर भी एक मिथ्या अहं के कारण इनके प्रति तादात्म्यभाव स्थापित करते हुए आसक्ति पैदा कर रहा है और परिणाम स्वरूप अपने लिए दुःख का ही सृजन कर रहा है। यों अपने मन के हानिकारक स्वभाव का निरीक्षण करते करते साधक इस अंधी स्वभाव-शृंखला को तोड़ता है। अनुशय राग और द्वेष के सभी विकारों को जड़ से उखाड़ता है। जब जब इन विकारों में उभार आता है तब तब साधक समता में स्थित रहता है। इस प्रकार उनकी

शक्ति क्षीण होती जाती है। वे उखड़ते जाते हैं। यों विकार-विमुक्त हुआ साधक स्वत: ही सहजभाव से मैत्री, करुणा, मुदिता और तटस्थता के उदात्त भावों से भर उठता है। विकारोंसे मुक्त होकर स्वयं दु:खों से मुक्त होता है तथा औरों को दु:खी बनानेवाले दुष्कर्मोंसे सहज मुक्त हो जाता है। अपना भी भला करता है औरों का भी भला करता है। आदमी अच्छा आदमी बन जाता है, नेक इंसान बन जाता है, सज्जन बन जाता है, संत बन जाता है। ऐसा व्यक्ति किसी संप्रदाय में दीक्षित नहीं होता। शुद्ध धर्म में दीक्षित होता है।

साधकों! सांप्रदायिकता विहीन ऐसे शुद्ध धर्म को धारण करने में कहीं कोई हिचकिचाहट न हो। जो सर्वजन हितकारी है, सर्व मंगलकारी है, आओ! उस सार्वजनीन, सार्वदेशिक ,सार्वकालिक धर्म को धारण करें और अपना भी मंगल साधें, औरों का भी मंगल साधें!

मंगल मित्र,
स.ना.गो.